

१०

तेरह दिन तक घर में रिश्तेदारों का तांता लगा रहा था। कक्कू ज़्यादातर अपने कमरे में ही पड़ा रहता..हममें से कोई उसे वहीं खाना पहुंचा देता। कभी-कभी वह शायद चीज़ों का जायज़ा लेने के लिये कुछ देर को अपने-आप ही बाहर आ जाता तो सब उसे ऐसे कौतूहल और भय से देखते मानों कोई जंगली जानवर अपना पिंजरा तुड़ाकर बाहर निकल आया हो। वह भी कभी उड़ती तो कभी जमी नज़र से जिस किसी को देखने-घूरने लगता, कभी रसोई में आ जाता और पानी वगैरह मांग लेता। मुझे उसे देख ऐसा लगता कि जैसे वह कुछ कहने आया हो लेकिन भूल गया हो कि क्या कहना है। तब कोई पूछ लेता कि पानी चाहिये तो पानी लेकर वापिस कमरे में लौट जाता।

दीदी-भैया के बच्चे कौतूहलवश कक्कू के कमरे के आसपास मंडराते रहते और बार बार अंदर झांकने की कोशिश करते। कक्कू की कैसी भी हरकत उन्हें अजूबा ही लगती और वे एक दूसरे को रिपोर्ट करते रहते जैसे कि कोई बहुत बड़ी खोज कर मारी हो। वह उनके लिये मानो किसी चिड़ियाघर या अजायबघर का नुमाइन्दा था। कक्कू की बेसरोकारी या झिड़कियां दोनों ही उन्हें उकसाती। दीदी की बड़ी बेटी जो कुछ समझदार हो चली थी, मुझसे बोली- "कक्कू मामा हमसे खेलते क्यों नहीं?"

"कक्कू मामा बीमार है"

"लेकिन हमसे बात क्यों नहीं करते?"

"-----"

"जब शिमला आये थे तो खूब झूटे माईयां करते थे..... पीठवाले घोड़े की सवारी भी कराते थे. अब तो कुछ नहीं करते.... तब चाकलेट भी लाया करते थे ..."

"-----"

"सोनु कहता है कक्कू मामा पागल हो गये है"

"कौन सोनु?"

"पड़ोस वाला लड़का।"

"बकवास करता है वह"

"लेकिन सोनु की ममी कह रही थीं-"

" बड़बड़ मत कर ज़्यादा "

कक्कू पहली बार इस अपने घर में आया था और पड़ोसियों ने जाने कहां से पूरे घर का इतिहास खोज डाला था।

"तुम लोग कक्कू को इतना परेशान क्यों करते हो...इस तरह कभी उसके कमरे का दरवाजा धकियाना...बार-बार भीतर झांकना..कहां की तमीज़ है"

"मैं तो ऐसा नहीं करती....मुझे तो कक्कू मामा से डर लगता है..पता नहीं कैसे- कैसे देखते हैं"

"तुम बड़ी हो उनको मना किया करो"

"मैंने तो कहा था पर मेरी बात कोई मानता ही नहीं.....पर मौसी कक्कू मामा सच में पागल हैं क्या?"

बच्चों की नासमझी, उनका भोलापन जितना मीठा होता है उतना ही क्रूर भी। जो बात उनके ज़हन के दायरे में ठीक से नहीं अंटती, उसे जानने का कौतूहल कुरेदता-कुरेदता क्रूरता की हदों पर पहुंच जाता है। कक्कू की असामान्यता बच्चों की दिलचस्पी का केन्द्र बनी हुई थी और मात्र डांट देकर उन्हें रोका नहीं जा पा रहा था। पूरे घर पर इस स्थिति का तनाव सा छाया हुआ था। मां को इस बात से काफी कष्ट था कि बहू-बेटियों को बच्चों के सामने भाई की परवाह नहीं ...वे उन्हें डरा-धमका कर या समझा-बुझा कर क्यों नहीं रोकती । कक्कू किन्हीं के लिये मज़ाक बन कर रह जाये यह कैसे सह सकती थी वह! जरा सा होश आते ही मां खुद कक्कू के खाने-पीने को देखने लग गयीं थी। यूँ लोगो की आवाजाही में, पति के ग़म से जनमी जिस्म की कमजोरी और तरह तरह की मेहमानों के साथ औपचारिकताये निभाने में उनको घंटों कक्कू की सूरत तक देखना नसीब न होताफिर भी कक्कू के खान-पान की पूछताछ वे कर ही लेतीं और किसी न किसी के ज़िम्मे उसे लगा देतीं।

एक दिन पता नहीं क्या हुआ--खाने की थाली कक्कू के बिना छुए ही लौट आयी। दूसरे दिन भी यही हुआ--खाना ज्यों का त्यों पड़ा रहा...कक्कू ने कुछ खाया ही नहीं। मां अपने-आप उसे देने गयीं..तब भी नहीं खाया। मां के इसरार करने पर बोला-" नहीं आप भी मत खाना। उन्होंने इसमें कुछ डाल दिया है!"

"किसने क्या डाल दिया है?--

"उन्होंने"

"कौन? क्या डाल दिया है? "

"कहा न ---कोई ज़हर मिलाया है"

"कौन मिलायेगा ज़हर...कैसी बातें करता है तू! हम सबने भी यही खाना खाया है। हमें तो कुछ नहीं हुआ, चल खा ले थोड़ा सा।"

बहुत कहने पर जब कक्कू नहीं माना था तो भैया पहुंच गये थे घटना-स्थल पर।

"इसे समझाओ। कहता है खाने में ज़हर मिला है! खायेगा नहीं तो चलेगा कैसे! आगे ही इतना कमज़ोर हो गया है।"

भैया ने झिड़क दिया था उसे।

"पागल हो गया है तू! ज़हर क्यों मिलायेगा कोई! सब तेरे अपने ही है यहां। चल जल्दी से खा। मां को परेशान मत कर। पहले ही हम कुछ कम तकलीफ में नहीं...उपर से तू..."

भैया ने चम्मच में चावल भरकर उसके मुंह में ठूस दिये।

कक्कू के मुंह में चावल तो चले गये क्योंकि वह भैया का हाथ हटाने को पहले से तैयार नहीं था पर झट से उसने थू-थू करके मुंह का सब कुछ बाहर निकाल दिया। भैया गुस्से से तमतमा उठे- "नहीं खायेगा तो किसका नुकसान करेगा...अपना ही तो। पता है न इसका हश्श। मैं तो सीधे तुझे अस्पताल भिजवा दूंगा..चल खा डाल जल्दी से। "

कक्कू को अचानक जाने क्या हुआ था। अजीब डर और नफ़रत भरी आंखों से उसने भैया को घूरा और मां की ओर मुखातिब हो बोला

"यही है, यही है.....इन्होंने ही ज़हर मिलाया है खाने में "

मां का चेहरा दहशत से सहम गया था।

"तेरा भैया है यह। ऐसा मत कह। ग़लतफ़हमी हो गयी है तुझे।"

"इट इज टाईम टू सैड हिम बैक टू द हॉस्पिटल। इसकी हालत ज्यादा ही खराब हो गयी है" भैया कहते-कहते कमरे से बाहर हो गये।

कक्कू की नफ़रत, आक्रोश और भय भरी आंखें जाते हुए भैया की पीठ पर चिपकी रहीं। बहुत देर तक उन आंखों में वही भाव बना रहा।

मां के मना करने के बावजूद वह दोहराता रहा- "नहीं नहीं, आपको नहीं पता...इन्होंने मिलाया है ज़हर। ध्यान रखना आप भी...ये आपको भी मार डालेंगे।मैं सच कह रहा हूंमुझे पता है...ये आपको भी मार डालेंगे। बड़ा खतरनाक आदमी है यह।"

मां की घबराहट आंसुओं में तबदील होने लगी थी। मैंने कक्कू के माथे को सहलाते हुए उसे शांत करने की कोशिश की- "तुझे कोई नहीं मारेगा कक्कू। बिल्कुल मत डर। हम सब तो तुझे प्यार करते हैं...डर किस बात का?"

उसने खाना नहीं ही खाया। इधर हम सब फिर से आनेजाने वालों के बीच रम गये।

+ + + + + +

दोपहर में मां ने भैया से अगले दिन दहाये (मौत का दसवां दिन) पर घर में होने वाले हवन के लिये सामग्री लाने को कहा था। भैया ने गैरेज से स्कूटर निकाला तो पिछला पहिया पंकचर था। वहीं गैरेज के बाहर गलियारे में भैया टायर बदलने लगे। हम सब अंदर थे। अचानक भैया की दहलाती चीख सुन पड़ी - "अरे मार डाला!"

मैं भागी-भागी बाहर आयी। कक्कू हाथ में खून से सना चाकू लिये भैया को उसी नफरती निगाह से देख रहा था। भैया पेट को हाथ से पकड़े ज़मीन पर तड़प रहे थे। खून की धार कमीज़, पैंट को रंगती फर्श को तर कर रही थी। मैं चीख उठी - "ये क्या कर दिया तूने कक्कू!" ।

उसका चेहरा, जिस पर का तनाव कुछ ढीला पड़ रहा था, फिर से अकड़ सा गया। वह अपने कमरे की ओर भाग गया। घर के दूसरे सदस्य, मातमपुर्सी करने आये तमाम लोग अब घर के बाहर मजमा लगाये थे। चाचा की गाड़ी बाहर ही खड़ी थी। भैया को तुरंत अस्पताल पहुंचाया गया।

अचानक पिताजी की मौत का संदर्भ सब भूल गये थे और बातचीत का केन्द्र बन गया था कक्कू। अपने-अपने ढंग से टिप्पणी कर रहे थे सब--"जो भाई इसका सबसे ज्यादा करता था, देखो उसी को मारा इसने" "पता नहीं क्यों, सबको उसे घर लाने की पड़ी रहती है...पहले बाप को मारा, फिर भाई को। अच्छा था वहीं अस्पताल में पड़ा रहता!...इसकी ज़रूरत ही क्या थी यहां! दूसरों की भी ज़िंदगी हलाक करते हैं।"....."जाने कौन से जनम का भरना था इसका...जिसे मरना चाहिये वह तो मरता नहीं..और जिनके जीने की ज़रूरत है..भगवान ऐसा ही करता है.."

कक्कू शायद इस हो-हुल्लड़ से घबरा गया था। उसने अपने कमरे के दोनों दरवाज़ों पर सिटकनी चढ़ा ली थी। उसका एक दरवाज़ा घर के अंदर खुलता था, दूसरा बाहर गैरेज की तरफ। वह बाहर वाले दरवाज़े से ही भैया को मारने गया था...तभी अंदर बैठे किसी को पता न लगा था।

मैंने बार-बार दरवाज़ा खटखटाया पर उसने खोला ही नहीं। मुझे डर था कि चूंकि उसके पास चाकू है वह कहीं खुद को ही कुछ कर न बैठे। चाकू हमारी रसोई का ही था। पर उसने कब वहां से उठाया होगा किसी को अंदाज़ नहीं था। यूँ महरी को एक बार उसका बिस्तर झाड़ते हुए दरी के नीचे से चाकू मिला था जो उसने मां को दिखाया था पर वह चाकू ज्यादा बड़ा नहीं था सो मां ने इसे कुछ तूल भी न दी थी। पर आजवाला चाकू तो मीट काटनेवाला था।

दीदी और छोटे भैया मां पर नाराज हो रहे थे कि वे क्यों कक्कू को घर पर रखने की ज़िद करती हैं। वे क्यों नहीं इस बात को स्वीकार करतीं कि वह सामान्य नहीं है और इसलिये

घर में रहना खतरे से खाली नहीं। मां खामोश सबकी सलाहें सुन लेती। एक बार दीदी से उन्हें इतना कहते सुना था- "तुम सब तो अपने-अपने घरों में सुखी बैठे हो..मैं उसकी न करूं तो और कौन करेगा...तुम सब भाई बहनों की तो अपनी अपनी जिंदगी है। उसके लिये तो अब मैं ही हूं..आखिर इस घर में उसका भी हक है...और किसी पर न हो मां पर तो है।" कहते-कहते मां रो दी थीं पिताजी की अनुपस्थिति का अहसास हरा हो गया था।

गुस्सा मुझे भी कक्कू पर ही आता था लेकिन फिर यही सोचने पर मजबूर हो जाती कि उसे अगर अपने और भैया के रिश्ते का अहसास होता तो ऐसा करता ही क्यों! तब अनचाहे मन को यह स्वीकारने पर मजबूर करना पड़ता कि कक्कू अब कक्कू नहीं है। और यही स्वीकृति सबसे पीड़ादायक सच्चाई थी। मां भी अगर मान लेती कि कक्कू को उनके साथ रिश्ते का अहसास नहीं, कि वह मानसिक तौर पर पूरी तरह निस्पंद हो चुका है तो बात शायद कुछ आसान हो जाती। रिश्ता तोड़ना मुमकिन हो जाता। जब कोई मर जाता है तो अंततः हम उसके न होने को स्वीकारते ही हैं और फिर नये सिरे से उसके साथ अपना रिश्ता परिभाषित करते हैं। कक्कू के संदर्भ में न ये किसी जीते इंसान का रिश्ता था न किसी मृत के साथ पुनर्परिभाषित रिश्ता। जीवित इंसान के साथ रिश्ता जोड़ा जाता है तो उस जुड़ने में एक अपेक्षा रहती है, कम से कम पहचाने जाने की अपेक्षा तो रहती ही है। यहां ना ना करते हुए भी हम अपेक्षा करते रहते थे कि शायद अपेक्षा करना ही सही हो। संदेह और विश्वास के बीच डोलते चले जाना ही हमारी नियति बन गयी थी।

कभी लगता कि जो भाई बहन अब हमारे साथ नहीं रहते थे उनके लिये कक्कू से रिश्ता तोड़ना अपेक्षाकृत आसान था इसीलिये एक तरह से उन्होंने रिश्ता तोड़ा ही हुआ था और अब सब की कोशिश यह थी कि मां भी एकबारगी ही उससे तोड़ ले लेकिन मां से कोई कुछ ऐसा कहता तो उन्हें बहुत चोट लगती। दीदी के कुछ ऐसे कहने पर बड़ी हारी हुई आवाज में मां ने जवाब दिया था- "जिस तन लागे, सोई तन जाणे..बड़े बेटे की देखभाल तो सभी कर रहे हैं कुछ दिन में ठीक हो जायेगा..फिर बीवी-बच्चे भी हैं! मां का जिगरा मां ही जानती है....जिसकी जिंदगी गर्क हो रही है मां को तो उसी बच्चे को संभालना है।"

सारा दिन कक्कू बंद ही रहा। आधा परिवार यूं भी भैया के लिये अस्पताल में चक्कर लगाने में मशगूल था। कक्कू को सब भूल ही गये जैसे मरने के लिये छोड़ दिया हो। बस मां ही बार-बार दरवाजा खटखटाकर उससे खाना खाने का इसरार करती रहीं। पर उसने नहीं ही खोला।

अगले दिन अस्पताल जाने के पहले मां ने रो-रो कर छोटे भैया से फरियाद की- "कुछ करो न इसका भी! वरना वह तो भूख से ही मर जायेगा।"

छोटे भैया कक्कू के कमरे की ओर गये और धपाधप दरवाजे पर अपने भारी-भरकम बूटों से ठोकरें मारने लगे। मैं डर रही थी कि कक्कू कहीं उनको भी चाकू न मार दे। चाकू आखिर उसके पास ही था। घबराहट से कांपती मैं भैया के पीछे जाकर खड़ी हो गयी।

छोटे भैया पर जैसे भूत सवार था। ताबड़तोड़ दरवाजे पर हाथों और बूटों से मारे ही चले जा रहे थे। कभी अपने पूरे बदन के ज़ोर से धक्का देकर खोलने की कोशिश करते। कक्कू की न अंदर से आवाज़ आयी न ही दरवाज़ा खुला। मेरा हलक सूखने लगा। ज़रूर कक्कू को कुछ हो गया है। तीन दिन से उसने कुछ खाया भी नहीं था। शायद बेहोश पड़ा हो। मैं चिल्लाने लगी- "कक्कू प्लीज़ खोल न दरवाज़ा। तेरे को कोई कुछ नहीं कहेगा। देख मैं दीदी हूं न तेरी। मैं प्रामिस करती हूं कोई तुझे हाथ नहीं लगायेगा। चल खोल दे दरवाज़ा।"

मेरी बात का भी कोई असर नहीं हुआ।

सहसा ज़ोर-ज़ोर से धकियाने से उपर की सिटकनी के पेच खुद-बखुद ढीले होकर बाहर आ गये और दरवाज़ा भक्क से खुल गया।

कक्कू एक कोने में दुबका बैठा था। उसकी डर से सहमी, मौत जैसी ठंडी आंखें दरवाजे की ओर ही टिकी हुई थीं। भैया उसकी ओर बढ़े तो वह और ज़्यादा अपने में सिमट गया। उसके चेहरे की उदासीनता और ठंडापन किसी बर्फ की दीवार की तरह जड़ और अपारदर्शी थे। मैंने उसके पास जाकर कहा- "ऐसे क्यों बैठा है कक्कू ! डरने की कोई बात नहीं।"

वह खोखली सी निगाह से मुझे ताकता रहा। छोटे भैया ने उसे हाथ देकर खड़ा करते हुए सधी सी आवाज में कहा- "खाना खा ले"

मां खाना थाली में सजाये तब तक कमरे में मौजूद थीं। भैया ने उसे कुर्सी पर बैठा दिया। बिस्तर यूँ भी गुचड़-मुचड़ हुआ पड़ा था--दो-तीन दिन से बनाया ही नहीं था शायद किसी ने! मां ने अपने हाथ से कौर तोड़कर खिलाना शुरू किया और वह बिना विरोध किये खाता रहा। खाना खाते हुए उसके चेहरे पर मुझे एक तुष्टि का भाव दीखा जैसे किसी भूख से बिलबिलाते शिशु के मुंह में मां का स्तन लग जाने पर होता है। वह चेहरा बड़ा शांत सा लगा। कुछ देर पहले के तूफान की स्मृति की छाया तक वहां नहीं थी।

फिर भी, कक्कू को जल्द ही अस्पताल भेजना लाज़मी हो गया था क्योंकि किसी को अब उसके व्यवहार पर भरोसा नहीं रह गया था। मां तो अभी भी ज़िद करती थीं- "तुम लोग उसे मुझ पर क्यों नहीं छोड़ देते। मैं उसकी देखभाल कर लूंगी। किसी को उसके नज़दीक फटकने की ज़रूरत नहीं।"

भैया अस्पताल से लौटे तो आराम करने के लिये महीना भर हमारे पास ही रुके रहे थे..जबकि बाकी सब लोग तेरवें के बाद चले गये थे। भैया के अस्पताल में होने की वजह से

दसवें और तेहरवें की रस्में बड़ी खामोशी से ही अदा हुई थीं। हवन में बड़े भैया की नामौजूदगी मन ही मन हम सबको बहुत परेशान कर रही थी--पर कक्कू को भी क्या दोष दिया जा सकता था! भैया मां को यही समझाते-"उसे अस्पताल भेजना बहुत जरूरी है। अगले महीने शशि की शादी की तारीख भी तो है। उसके इंतज़ाम करोगी या कक्कू की देखभाल! यूं भी घर पर मेहमान वगैरह आयेंगे, कक्कू के होते कैसे चलेगा!"

भैया के मन में कक्कू के प्रति वैर या शिकायत का भाव ज़रा सा भी नहीं था-था तो एक गुरु दायित्व का बोझ। मेरा मन भर सा आया था। इसे ही कहते हैं कर्त्तव्यों की, दायित्वों की टकराहट! कहां से मिलती है सही कर्म के चुनाव की प्रेरणा! क्या कक्कू के उपर मुझे चुनना-मेरी शादी का इंतज़ाम करने के लिये कक्कू को रास्ते से हटा देना-भैया का सही फ़ैसला था! क्या होता है कर्म और धर्म का सामंजस्य? क्या भैया का चुनाव सही था? कौन बतायेगा? क्या वक्त भी सही जवाब दे पाता है? वक्त जो परिस्थितियों को बहुत दूर, बहुत पीछे छोड़ आता है! जो सिर्फ स्मृतियों के बूते पर ही स्थितियों की विवेचना कर सकता है! वर्तमान जिसमें हम जीते हैं वह तो हमेशा ही मात्र सवाल उठाता है--जवाब या तो अतीत के गर्भ में सोये होते हैं या भविष्य के अंधेरों में गुमसुम! तब कोई क्या करे! जीना तो जैसे लगातार बुने जाने वाले निर्णयों की एक कतार भर है-उल्टा या सीधा, हर बुंदा ही नमूना बनाता जाता है! सिर्फ सीधा-सीधा बुने जाओ तो नमूना भी क्या बनेगा!

मां को अकेले छोड़ने को मन नहीं मानता था पर सब कहते शादी रक्नी नहीं चाहिये, कि शुभ कार्य में देरी नहीं होनी चाहिये। जैसे शादी भी मौत की तरह प्रकृति का एक अनिवार्य और अटल नियम था जिसके नियत समय पर होने को टाला नहीं जा सकता था!

मुझे अशोक का ख्याल, उसके साथ की संभावना, एक सहारा सा तो दे जाती थी पर शादी का जश्न अपने-आप में अनावश्यक उलझावों का पहाड़ सा लगता जिसे उलांघने की हिम्मत मैं खुद में न जुटा पाती। मन में किसी धूमधाम के लिये न उत्साह जगता था, न कोई शौक उठता था।

फिर भी जब एक बार शादी का फ़ैसला हो ही गया तो सब अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में जुट गये। भैया बारात के ठहराने, आवभगत, क़ेटरिंग वगैरह के इंतज़ामों में लग गये। मां को गहने, बिस्तर, रज़ाईयों और बर्तन इत्यादि दहेज की चीज़ों का इंतज़ाम करना था। बड़ी अनिच्छा से मैं उन भारी-भारी ज़री की रेशमी साड़ियों की खरीदारी करने जाती जिनको पाने की इच्छा मैं बरसों से अपने भीतर संजोये थी। शायद यही एक ज़रिया था मन की पीड़ा से जूझने का, उससे फ़ुरसत लेने का। मां मुझे चीज़ें दिलवाने ही कभी सोनार के पास ले जाती तो कभी बर्तन भंडार। इसी बहाने वे घर से निकलती, वर्ना कक्कू या पिताजी को छोड़कर और कुछ सोचने की फ़ुरसत ही कहां थी!

एक बार और रिश्तेदारों का तांता लगा। दीदी और छोटे भैया सिर्फ दो-दो दिन की छुट्टी पर आये थे।

किसी ने कक्कू का जिक्र नहीं किया। शादी की रस्मों के दौरान वह अस्पताल में हम सब से बेखबर पड़ा था। मां ने भैया से कहा तो था-"कम से कम उसे शादी की मिठाई तो दे आये" और भैया ने झिड़क दिया था मां को-"कैसी बातें करती है! बीमारी में मिठाई भला पचेगी!"

"तो भी क्या? मुंह तो लगा लेगा। शगन होता है भाई का "

"ठीक है, ठीक है, दे आउंगा "

यूं जश्न उतना बड़ा नहीं था जैसा कि सामान्य परिस्थितियों में होता। सिर्फ करीबी रिश्तेदार ही बुलाये गये थे। एक तरह से न्यूनतम साज-सज्जा और संगीत था। मद्धम सुर में गूंजती शहनाई और श्वेत फूलों से बुनी वेदी! सात्विक सा माहौल। मृत्यु, जन्म और विवाह-सत्त के तीन बिंदु! एक ही रेखा पर बिछे तीन बिंदु! एक साथ ही कितने दूर और कितने पास। कोई भी बिंदु दूसरे को छूता नहीं, फिर भी घुल जाता है दूसरे में! मन अस्त-व्यस्त ही रहा। हर रस्म की अदायगी में पिताजी की अनुपस्थिति मुखर हो जाती और आंखें पनिआ जाती।

मन में कहीं यह अपराध भाव सा भी बैठ गया था कि मैं सबको कष्ट में पड़ा छोड़ कर जा रही हूं। मां और कक्कू-जैसे सबको मेरी जरूरत है और मैं उन्हें बीच मंझधार में छोड़ खुद नाव पकड़ कर किनारे जा बैठने लगी हूं। डोली चढ़ने के पहले घर की डचोढ़ी छोड़ते हुए नानी ने मुझ पर से जौ वार कर जब कहा था-"अब तेरे भाग तेरे, हमारे भाग हमारे। तुझको तेरे घर का भाग लगे" तो मेरी रलाई फूट पड़ी थी। उस घर की नियति से अलग होने की इस औपचारिक घोषणा ने जैसे मेरे पैर तले की वह डचोढ़ी भी छीन ली थी।

मां भैया के साथ नहीं जायेगी! वे अपना शहर नहीं छोड़ सकती! उन्हें कक्कू के आसपास ही रहना है! वरना वे उसे मिल कैसे पायेगी? भैया को मां के पास तबादला करवाने में वक्त तो लगेगा ही! जाने कितने ऐसे सवाल और दुविधायें उस सुवासित-सुरमयी रात में मुंह उठाकर झांकते रहे थे। दुपट्टी की गांठ ने जो नया रिश्ता जोड़ा था, वह दहलीज़ की स्मृति से मुक्त नहीं हो पा रहा था। फिर भी मुझे मालूम था वह दहलीज़ अब मेरी नहीं थी--मेरा भाग्य कुछ और होना था। पर क्या सच में कुछ और हुआ--क्या अंशु कहीं उस दहलीज़ की स्मृति का ही अंश नहीं था! या वह था सिर्फ मेरा अपना भाग..सिर्फ मेरा....अशोक का भी नहीं...जो कि नियम से उसे होना था! किसी से जुड़ कर भी उसके भाग्य से जुड़ना, उसके भाग्य में

भागी होना जरूरी नहीं होता!...बात अशोक की ही नहीं थी...मेरी अपनी भी तो...क्या कक्कू के भाग्य में मेरा भाग था!

११

अशोक के साथ सच में किसी नयी दुनिया में आ गयी थी मैं। बम्बई की कितने ही रंगों से भरी, चहकती-महकती, झिलमिलाती दुनिया! संगीत की शामें, थियेटर की शामें, फिल्मी सितारों की शामें! हर शाम की अपनी अलग ही महक, हर शाम का अपना अलग ही रंग! अशोक अपने इर्द-गिर्द हर पल मेरी ही मौजूदगी चाहता--एक घड़ी को भी अलग न होने देता। यहां तक कि अक्सर दिन में भी जब वह बिजनेस मीटिंग के लिये जाता तो मुझे साथ रखता। वह इमारत के अंदर जाकर मीटिंग कर आता और मैं बाहर ड्राइवर के साथ कार में बैठी रहती। जब शहर के बाहर जाना होता तो वह हमारी पिकनिक या छुट्टी ही बन जाती। वह मुझसे कहता-"तुम तो ऐसा हीरा हो कि घर पर भी अकेला नहीं छोड़ सकता।"

"क्यों घर पर क्या हो जायेगा?"

"क्या पता कोई हौवा ले जाये"

"हौवा या आदम"

"मैं तो किसी का भरोसा नहीं करता"

मेरा संसार पूरी तरह से अशोक से घिरा था। उसमें कहीं किसी के लिये भी जगह नहीं बची थी। मैं मां को खत तक लिखने की फुरसत न निकाल पाती। जिन मां और कक्कू के साथ मेरी ज़िंदगी के बरसों का पूरा-पूरा साझा था अब मेरी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में उनका कोई संदर्भ भी न था। सुबह से शाम तक बस उस एक की ही गिरफ्त में रहती मैं--उसी के लिये खुद को बनाना-संवारना, उसी की ज़रूरतों के बारे में सोचना--फिर वह चाहे नाश्ते, लंच और डिनर के लिये रोज़ मुख्तलिफ़ किस्म के खाने बनाने की योजना हो, या वक्त पर उसके कपड़े धोबी से धुलवाने का इंतज़ाम करना हो या उसकी कमीज़ों के टूटे बटन लगाना हो। वह घर

भी जैसे अशोक का ही विस्तार था और उसके हर हिस्से को सजाने के लिये मैं नये-नये सुझाव खोजा करती थी और फिर उनको असलियत की शक्ल देने के लिये कभी न खत्म होने वाले बाजार के चक्कर शुरू हो जाया करते--कभी परदे बदलने होते, कभी नया ब्रेडकवर चाहिये होता, कभी अशोक के लिये नये फैशन की कमीज़ खरीदनी होती और कभी खुद को सजाने के लिये नयी साड़ी! खुद को सजाकर मैं अशोक को ही खुश करती। अगर अशोक मुझे कभी अकेला छोड़ भी देता तो उससे जुड़े काम मुझे फिरनी की तरह घुमाये रहते। ज़िंदगी जैसे किसी घूमते हुए पहिये के तारों में अटक गयी थी और वह पहिया अपनी तेज़ गति में बहाये चले जा रहा था मुझे! पल भर को भी सांस लेने की फुरसत नहीं--सिर्फ गति, बहाव, चलना! शादी के पहले मेरी ज़िंदगी की गति इतनी धीमी थी कि उसके बहाव को मैं देख सकती थी, सूँघ सकती थी, महसूस कर सकती थी। ज़िंदगी में था भी क्या--कालेज, सहेलियाँ, माँ, कक्कू और पिताजी। दूसरे भाई-बहन तो खतों और उत्सवों का हिस्सा थे। रोज़मर्रा की ज़िंदगी में तो गिने-चुने लोगों की ही शिरकत थी। जबकि अशोक का अर्थ था वह सारा 'पैराफरनिलिया' जिसमें उसका परिवार, उसके ढेर सारे दोस्त, दोस्तों की पत्नियाँ, पार्टियाँ, बिजनेस कान्टेक्ट्स, और न जाने कितनी किस्म की आकस्मिकतायें भी शामिल थीं।

दो बरस बीतने को आये, मैं इस दौरान एक बार भी माँ से मिलने नहीं जा सकी। यूँ दिन भर चाहे मैं अपनी नयी ज़िंदगी की अपेक्षाओं से जूझती रहती पर रातों को सपनों में मेरी भूली-भुलायी ज़िंदगी फिर से तरोताज़ा होकर सामने आ जाती। बड़े बदले हुए रंग में आती थी ज़िंदगी, सपनों की उस अजीबोगरीब दुनिया में। एक सपना बार-बार लौटता था - सूनी और सर्द रात...बर्फ से ढके टीले...बर्फ की सफ़ेदी घुप्प अंधेरी रात में चांदनी सी बिछी दीखती...पर उस उजियारी में मिठास या गर्माहट नहीं थी..बस था एक नीला सा ठंडापन...बीच में कहीं किसी बर्फ़ के टीले पर मैं पिताजी को लेटा हुआ देखती...अकेले सफ़ेद चादर में लिपटे पिताजी और उनके पास ही खड़ा होता किसी अधउगे पेड़ का टूठ.... चारों ओर सिर्फ बर्फ़ की सर्द सफ़ेदी और रात का सूनापन...मेरी आंखें उस पेड़ की सूखी, नंगी शाखाओं पर जमी रहती और किसी अनाम डर से मैं कांपने लगती--आंख खुलती तो मेरा जिस्म ठंड से कांप रहा होता।

एक और भी सपना बार-बार दुहराता था...इसमें माँ का बेहद उदास चेहरा क्लोज-अप में रहता था..कभी वे रो रही होतीं..किसी की मृत्यु हो गयी है! लेकिन किस की..इसका पता न रहता! सपना टूटने के बाद रात के भयभीत अंधेरे में मैं घबरायी सी पहेली बूझती जागती रहती। किसकी मौत को रो रही है माँ...क्या जो बीत चुका है ...या कुछ और होनेवाला है!

एक रात अचानक भैया का टंककाल आया था। मां की तबीयत बहुत खराब है। कुछ दिनों के लिये मिलने आ सकूँ तो आ जाऊँ - बहुत याद करती है।

अंशु तब मेरे गर्भ में था। अशोक मुझे कहीं भी अकेला भेजना नहीं चाहता था। आज यह बात बड़ी अजीब सी लगती है कि यही अशोक इतना करीबी साथी था मेरा, जबकि अब एक छत के नीचे रहते हुए भी हम एक दूसरे से इतना दूर आ चुके हैं...हमारी जिंदगियां इतने अलग-अलग रास्तों पर चल रही हैं। जिस अंशु की मेरे प्रसव में रक्षा करने के लिये वह मुझे आंखों से ओझल नहीं करना चाहता था, वही अंशु आज उसकी आंखों का कांटा बना हुआ है। उसने चोट लगने के बाद से अंशु को कभी भी इतनी अहमियत नहीं देनी चाही कि वह उसके काम-धंधे या उसके समाज पर हावी हो जाये...हर तरह से वह अपने को उससे बचाये रखने की कोशिश करता जैसे कि अंशु हो ही नहीं! या हो तो किसी और का दोष, किसी और की करनी और भरनी! इस कदर कोई कैसे अपने आप को पथरीला बना सकता है। क्या पीड़ा से बचने के लिये खुद को उसके उत्स के प्रति आक्रामक या निर्दय बना लेना सही रख है? और यह बचना क्या इतना ज्यादा अहम है कि आदमी अनेकों तरह के किले बनाता जाये छुपने-बचने के लिये! कि पीड़ा से ज्यादा पीड़ाकर हो जाये उसकी यह भाग-दौड़! उसका यह किलों का निर्माण! यह अपने और अपनों से बचने की कोशिश!

मुझे अभी भी नहीं भूलता वह वाक्या, जब अंशु ने नयी-नयी पेंटिंग करनी सीखी थी! हर वक्त पेंटिंग का भूत सवार रहता....हर सपाट सतह उसे कैनवस सी दीखती और वह उस पर तूलिका फेरने लगता। मैंने उसे ढेर तरह के रंग, ब्रश, और कैनवस पेपर खरीद दिये थे। फिर भी कभी-कभी वह खड़िया से बरामदे के फर्श पर तस्वीरें खेचने लगता या बगीचे में होते तो गीली मिट्टी पर तिनकों से रेखाचित्र बनाने लगता। मैं उसे ऐसा करने से रोकती नहीं थी क्योंकि मुझे लगता अगर उसे अपनी अभिव्यक्ति का एक माध्यम मिल रहा है तो उसे पूरी तरह से पनपने दूं...कोई छोटी सी रोकटोक उसे फिर से अपंग बना सकती थी। कोई दिलचस्प चित्र खींचता तो उसे बढ़ावा देने के लिये मैं दीवार पर भी लगा देती और बार-बार उसकी तारीफ करती। अशोक को घर भर में दीवारों पर लगे ये चित्र कतई पसंद नहीं थे। उसे लगता कि दीवारों पर अगर कुछ लगाया जाये तो महत्वपूर्ण चित्रकारों के ही काम हों...। एक दिन रसोई में कुछ मसरूफ हो गयी थी मैं जबकि अंशु ने अशोक के डेस्क पर बैठ कर कई एक कागज़ातों पर तूलिका फेर दी थी। अशोक ने जब घर आकर देखा तो आगबबूला हो गया। आव देखा न ताव, अंशु को पीटने को लपका। अंशु लान में बैठा मुझसे बुनती सीख रहा था। अपने नन्हे हाथ से उसने फंदे में सिलाई फंसाई ही थी कि अशोक ने ज़ोर से उसकी दायीं बांह खींची। अंशु तो सहम गया था, मेरी चीख निकल पड़ी। अभी अशोक के होंठ कुछ अंटशंट

कहने को फड़फड़ाये ही थे कि मैंने अशोक के हाथ को अपने दोनों हाथों के ज़ोर से दबोच कर उसका पंजा खोलने की कोशिश करते हुए कहा - "खबरदार जो तुमने उस पर हाथ उठाया। उसका कोई भी जुर्म इतना बड़ा नहीं कि उसे मारना शुरू कर दो। आखिर ...उसकी हालत से वाकिफ हो तुम।"

"उसे ज्यादा ही सिर पर चढ़ाये जा रही हो तुम। मुझे तो तुम भी पागल दीखती हो उसके साथ!"

"ठीक है। कह लो जो कहना हो तुम्हें। पर उसे मारना हो तो पहले मुझे मारो।" मैंने चुनौती देते कहा था।

गुस्से से दनदनाता अशोक अपने कमरे में चला गया था। जाते-जाते भुनभुनाता रहा - "बच्चों की नर्सरी बना रखा है यह घर। जहां देखो उल्टी-सीधी चीज़ें टंगी हैं। कहती है घर पर नहीं टिकते..कोई घर है यह या पागलखाना। ...रंग फेंकने से पेंटिंग नहीं बन जाती। ... अपनी जिंदगी तो बरबाद की ही , मुझे भी इस पागलखाने में घसीटना चाहती है"

उसकी उस बड़बड़ाहट में एक शब्द बार-बार सुनाई पड़ता था...पागलखाना....पागलखाना...घर है कि पागलखाना....मुझे भी पागल बना कर छोड़ेगी...पता नहीं कब निजात मिलेगी इन पागलों से...

उस दिन पल भर को अपने आप पर यह संदेह भी हुआ था...कहीं मैं सचमुच में तो पागल नहीं हो रही! अपना पागलपन खुद को दिखाई भी तो नहीं देता....पर फिर झटक दिया था यह ख्याल ...है पागलपन तो हो!

पता नहीं क्यों उस दिन मुझे पिताजी का कक्कू को बेतहाशा मारना याद आता रहा और मैं बेहद परेशान और उदास हो गयी। नहीं मैं ऐसा नहीं होने दूंगी। अशोक अंशु पर हाथ नहीं उठायेगा। उसने तो अंशु को कभी पुचकारा भी नहीं तब उसका मारने का हक भी कैसे बनता है। यूँ भी किसी के शरीर की हानि का हक किसी को भी क्यों हो, चाहे वह व्यक्ति जनक भी हो! जनन तो रक्षण के लिये दिया जाता है, भक्षण के लिये नहीं। यूँ रक्षण के उद्देश्य से ताड़ना स्वीकार्य होती है पर उसकी भी तो एक सीमा पहचानने की ज़रूरत होती है..कौन , क्या और कितने के सवाल। इस तरह बेतहाशा...पर पिताजी को रोक पाने का साहस मैं कभी भी जुटा नहीं पायी थी। यह बदलाव, यह हिम्मत और ताकत , मुझमें मां बनने के बाद ही आयी है...क्या मां बनने से ही एक पूरापन मुझमें आ गया था या कि यह परिस्थितियों का सबब था। अपने अंश की रक्षा तो मुझे करनी थी ही। मातृत्व की इस ताकत ने उस छुई मुई शशि को न जाने कहां छुपाकर रख दिया था..अंशु मेरे पहलू में होता तो दुनिया का कोई भी पुरुष मुझे डरा नहीं सकता था। जबकि मैं आज तक यह भी समझ नहीं पायी कि अगर पहले मुझमें यही ताकत होती तो क्या कक्कू को मैं बचा सकती थी? या यह सब परिस्थितियों का

ही खेल था। परिस्थितियां..जिन पर किसी का अधिकार नहीं होता...सब कुछ होता चला जाता है। हम या बरबस देखते रह जाते हैं या उनके थपेड़ों को सहते हुए ज़िंदगी ढोये चले जाते हैं! एक तरफ लगता है कि आज जो ज्ञान,खोज, साधन या अनुभव हमे हासिल है अगर वे कुछ साल पहले मुहय्या होते तो कक्कू भी ठीक हो जाता! या कि कक्कू की कुछ स्थिति ही ऐसी थी कि वह हमारे कुछ भी करने के बावजूद बिगड़ती ही जाती..जैसा कि हुआ भी।

यह सवाल मैं हमेशा उठाती रहती हूं-अपने से, दूसरों से। पर कभी भी सही जवाब नहीं मिलता। सही जवाब शायद होता भी नहीं..शायद कोई भी स्थिति खुद को दुहराती नहीं! हर शख्स एक अलग हस्ती है..हर की कहानी के अपने ही मोड़-तोड़...कोई भी कहानी किसी दूसरे की कहानी का ज्यों का त्यों उल्था नहीं होती। फिर भी मेरी उलझन, मेरा पश्चाताप, मेरे मन की जड़ों में दूर तक जाकर धंस गया है। अंशु और मेरा सम्बन्ध कहीं मेरे और कक्कू के सम्बन्धों का ही विस्तार हो गया है। अंशु को जितना समझ पाई हूं या उसके प्रति संवेदनशील हो सकी हूं उसमें कहीं कक्कू का ही संदर्भ है। अगर कक्कू न होता तो आज शायद अंशु भी न होता। वह भी किसी अमानवी अस्पताल में सड़-गल चुका होता और जिस तरह अशोक ने उसके रिक्त स्थान को और-और नामों या सामाजिक क्रिया-कलापों से भर लिया है...वैसा ही शायद मैं भी कर लेती। पर अब वह मेरे लिये एकाकी लक्ष्य, मेरी ज़िंदगी की सबसे बड़ी चुनौती बन गया है। यह भी कि उस पर इस तरह

केन्द्रित होने से जो बहुत सी ज़रूरी चीजें या रिश्ते छूट गये हैं, अब उनका भी मोह काट लिया है, और उसकी वजह से जो भी ज़्यादातियां मुझ पर हुई हैं..उन्हें भीनी मुस्कान के साथ झेल लिया है। झेलने के सिवा और चारा भी क्या है..जब मेरे जीवन का केन्द्र अंशु हो गया तो अशोक को भी तो कोई केन्द्र चाहिये ही था..तब उसकी हर बात मुझे निरस्त्र कर देती है..चाहे मेरा मन विरोध करे या आंसू बहाये! उसके पास तो पूरा तर्क विधान है। ओह! अशोक के ये विवाहेतर सम्बन्ध....पहली बार किस तरह तोड़ कर रख दिया था मुझे...अशोक की वही दलील-"तुम्हारे पास फुरसत ही कहां है मेरे लिये। तुम तो चाहती हो मैं भी तुम्हारे साथ बैठकर मातम मनाता रहूं...अगर चार पल किसी के साथ हंस-बोल लिया तो उसमें क्या बिगड़ गया.."

अंततः सारा दोष मुझी पर मढ़ा जाता-"कुछ मेरी भी ज़रूरतें हैं। तुम्हें कभी मेरा ध्यान हुआ है? औरत सिर्फ मां ही नहीं होती, पत्नी भी होती है...क्या किया है तुमने मेरे लिये...बोलो किया है कभी कुछ! ...तुम चाहती हो मैं भी तुम्हारे साथ घर में जुड़ा बैठा रहूं तो वो नहीं हो सकता। मेरी ज़िंदगी मेरे अपने लिये भी है...दूसरों को किराये नहीं चढ़ाई हुई"

कभी तंग आकर यह भी कह देता-"जो कुछ तुम कर रही हो वह या तो भगवान कर सकता है या हैवान। मैं तो इनमें से कोई भी नहीं। मुझे तो इंसान की तरह ही जीने दो"

फिर एक बार यह भी तो कहा था - "हमारे पास और आल्टरनेटिव्स भी तो हैं...तुम उनके बारे में क्यों नहीं सोचती....हम दोनों समर्थ हैं..." लगभग चीख निकल गयी थी मेरी।

मैंने शायद किराये पर चढ़ा दी है अपनी ज़िंदगी! पहले अशोक ने ही इसे किराये पर लिया था। अब उसी किराये में कोई और आकर रहने लगा है..वह कोई और अब इतना अहम हो गया है कि किरायेदार और मकान-मालिक दोनों ही भूल गये हैं कि उनका आपसी समझौता क्या था!

मैं अशोक की महिला मित्र से कभी मिली नहीं..फोन आते हैं...जब अशोक घर पर रहता है तो घंटों फोन पर किसी से बातें भी होती हैं..मित्र, बिज़नेस एक्वेटेस....आजकल रिश्तों के बहुत सारे नाम हैं...शरीर की या भावना की जिससे तृप्ति हो उस रिश्ते का शायद कोई एक नाम है भी नहीं...पत्नी या प्रिया भी वह नाम नहीं है...क्योंकि पत्नी या प्रेमिका भी आंशिक रूप से वह तृप्ति दे पाती है..तब वह जो कोई भी हो...अशोक को मानसिक - शारीरिक रूप से तृप्ति देने वाला है..इसलिये मुझे स्वीकार है। जब अकसर अशोक रात-रात लौटता नहीं तो मैं पूछती भी नहीं क्योंकि वह इसे ब्रिज पार्टी या बिज़नेस मीटिंग कुछ भी नाम दे देता है जबकि उसकी आंखें, उसके हाव-भाव मुझे कुछ और बतला रहे होते हैं। अशोक को दोष क्या दूं...मेरी अपनी तृप्ति भी तो कहीं अंशु के सुख-दुख से जुड़ी है..मैंने भी तो अपना सुख कहीं और खोजा है। चाहे उसके मूल में मेरी अजीबोगरीब परिस्थितियां रही हों ..तब अगर वह भी पत्नी से इतर कहीं कुछ और खोजता है तो जायज़ ही है! फिर अशोक ने कम से कम इस घर को तो अपना माना ही...इसे तोड़ने की इच्छा ज़ाहिर नहीं की ..क्या यह भी तसल्ली की बात नहीं कि किसी और ने भी उसे तोड़ने को मजबूर नहीं किया जबकि उसका यह हक हो सकता था। इतनी कीमत तो अशोक ने भी चुकायी ही। यूं भी , अशोक के निजी अतीत में तो कोई कक्कू था नहीं कि उसकी मेरी जैसी भावना या प्रतिक्रिया होती! उसका बेफिक्र बचपन अभी भी बेफिक्र ही रहना चाहता था। अतीत के अनुभव जिस तरह मुझे मेरे भविष्य के लिये तैयार कर गये वैसा अशोक के साथ तो नहीं हुआ था! अशोक के अनुभवों ने तो उसे अलग किस्म के भविष्य के लिये ही तैयार किया होगा। वे क्या थे यह मैंने खुद भी तो जानने की कोशिश नहीं की। मैंने खुद अंशु के सामने उसकी भावनाओं को कब कोई तूल दी! मैंने तो उम्मीद की कि मेरी तरह वह भी खुद को भूलकर अंशु के प्रति समर्पित हो जाये-क्या यह मेरी अपनी ज़्यादाती नहीं थी। उसे भी तो एक आंचल चाहिये था जिससे वह मेरे और अंशु-- हम दोनों द्वारा लगायी गयी चोटों को ढांप सकता। अगर वह आंचल किसी और ने थमा दिया तो क्या मुझे अहसानमंद नहीं होना चाहिये! जो सहज सुख मैंने खुद अशोक से छीन लिये...उन्हे उसे देने वाले के प्रति तो मुझे आभारी ही होना होगा!

+ + + + +

डाक्टर से बात हुई तो उसने कहा कि चूंकि अभी मेरा चौथा महीना ही है इसलिये हवाई जहाज का सफ़र किया जा सकता है। सहसा अपनी पहचानी हुई दिल्ली में पहुंचने का चाव सा भर गया था मुझमें! मानों इतने दिन मैं इसी इंतजार में ही बैठी होऊं! जबकि भैया का फोन न आता तो अभी भी शायद महीनों और गुज़र जाते और मैं मां से मिलने का सवाल न उठा पाती। अपनी शादीशुदा बहनों के बारे में मुझे लगा करता था कि शादी के बाद वे एकदम कुछ और हो गयी थी...परायी-परायी सी। उनका बात करने का तरीका भी बदल गया था..कुछ औपचारिकता, कुछ बनावट और कुछ ससुराल के रंग-ढंग का असर! अब उनसे ज्यादा बदलाव मुझे खुद में महसूस हुआ। या यह शायद मां के ही सबक का असर था-"बस अपने-अपने घर में खुश रहो"!

हवाई अड्डे पर भैया मुझे लेने पहुंचे हुए थे। कमज़ोर लगे वे। कुछ उम्र हासिल कर ली थी उन्होंने। कनपटियों पर के बालों पर सफेदी आयी हुई थी। पिताजी के बाद से हर चीज का बोझ बड़े भैया ने अपने उपर ही ले लिया था। मुझे देखते ही उनकी आंखों में चमक भर आयी थी और मैं अपने जिस्म के हर बदलाव को भूल कर अचानक वही पुरानी शशि बन गयी थी।

"मां कैसी है?"

"अस्पताल से तो आ गयी है। पर अभी उन्हें ज्यादा चलने फिरने की इजाज़त नहीं"

"और भाभी?"

"बंगलौर में ही है। बच्चों के पास। उनके इम्तहान होने वाले हैं"

"आपके तबादले का क्या हुआ?"

"कोशिश तो कर रहा हूं, शायद अगले साल तक हो जायेगा।"

बहुत देर तक उस दुखती रग को नकारा नहीं जा सकता था।

"कक्कू कैसा है?"

"पहले तो मां उसे मिलने जाती रही। इतनी दूर बसों में धक्के खाते हुए जाना...अब इस उम्र में....पर मेरी कहां सुनती है.....उनकी ज़िद के सामने कोई कुछ करे भी क्या। इसी से तो हार्ट-अटैक हुआ.....तबीयत खराब होने पर भी चल देती थी। अब मुझ पर ज़ोर दे रही है कि उसे मिलवाने घर पर लाऊं।"

मुझे अशोक की दी हिदायतें याद आ गयी पर मैं चुप रही। उसने चलते वक्त अपनी फ़िक्र जाहिर की थी मुझ पर--"शशि देखो, तुम्हारी भावना को समझता हूं मैं...पर ज्यादा बह मत जाना। कक्कू से खुद को परे ही रखना। अपने आने वाले बच्चे के लिये हमें किसी किस्म का रिस्क नहीं लेना चाहिये।"

मैने उसे आश्वासन दिया था। पूरी एहतियात बरतूंगी। यह कौन जानता था तब कि उसकी अपनी नियति क्या है!

मां अपने कमरे में बिस्तर पर ही लेटी थीं। अभी वे बिल्कुल हिलडुल नहीं सकती थीं। मुझे ही झुककर उनके गले लगना पड़ा..

"चल ठंड पड़ गयी तुझे देखकर। मैने तो कहा ये लड़की भूल ही गयी अपनी मां को। न चिंता, न चपाटी।"

"एक दो तो लिखी थी ...आपने भी कहां लिखी!"

"यहां घर....कक्कू...बस इन्हीं झमेलों में फुरसत नहीं निकाल पाती। कुछ तबीयत भी ऐसे ही रही!"

"चलो अब गिले-शिकवे खत्म। मै तो आ ही गयी हूं उड़ के!"

मां की देखभाल के लिये अब एक आया आती थी। वही चौका-बर्तन भी संभालती थी। मां पूरे जोर से आवाज़ देकर उसे बुलाने लगी। मै चौकी। मां मेरी मेहमाननवाज़ी कर रही थी-

"मै कोई मेहमान तो नहीं ..ऐसे तकल्लुफ़ क्यों कर रही हो। अभी मुझे चाय-नाश्ते की ज़रूरत नहीं --प्लेन में खाया था। जब चाहिये होगा तो अपने आप बोल दूंगी।"

फिर भी सब मेहमान की तरह सुलूक कर रहे थे मुझसे। भैया भी। और मुझे खुद भी अवर सा लग रहा था जैसे मेरा अपना घर कोई और था! इन पिछले दो सालों में घर कुछ बदल भी गया था। वैसा नया पुता घर नहीं था। दीवारों पर से जगह-जगह पेंट उखड़ रहा था या कहीं कहीं मैला हो गया था। खासकर बिजली के स्विचों और दरवाजों के कुंडों के इर्द-गिर्द मैल के निशान काफी गहरा गये थे। खिड़कियों के आलों में धरी चीजों पर धूल जमी पड़ी थी। जैसे नये-नकोर घर से शादी करके विदा हुई थी, वह चमक, वह सुथरापन अब चुक गये थे। मुझे मां पर हैरानी थी! जो रात-दिन झाड़पोंछ का कपड़ा अपने आसपास रखती थी और तनिक सा धब्बा या धूल जिन्हें असह्य था...जो हर दीवाली पर सारे घर में पुतवाइ करवाती थीं...अब इस घर से ऐसी विरक्ति!

मां के इर्द-गिर्द ज़िंदगी कुछ ठहर सी गयी थी। बम्बई की चहल-पहल और भाग-दौड़ की आदी हो गयी थी मै! मां के पास आकर जैसे ज़िंदगी कुछ विश्राम लेने लगी थी--ज़िंदगी के फैलाव कुछ सिमट आये थे। कुछ खास गतिविधि थी ही नहीं..मां के कमरे से लान तक.. फोन पर सहेलियों से गपशप ...या राह गुज़रते सब्जी या फलवालों से ज़रूरत भर की खरीदारी या कभी छत पर खड़े हो नये बनते मकान देखना। नये बनते मकान देख मन की हालत अजीब सी हो जाती थी। ईंट पर ईंट बैठाकर जब मज़दूर दीवार खड़ी कर रहे होते तो मन में भी एक

उठान होती। फिर सहसा वहां मुझे सिर्फ मिर्गि, गारा और कंकड़ ही दीखते...और उनमें रटपटाती - छटपटाती छायायें...लगातार चेहरे बदलती वे अनाम छायायें मेरे सारे चेतन को दबोच लेतीं और मुझे लगता मेरी हस्ती भी कहीं उन्ही छायाओं में घुली जा रही है!

भैया मेरे आने से निश्चित हो गये थे और बैंगलोर लौटने का कार्यक्रम बना रहे थे। मां ने ज़िद की-"मैंने कहा है न कि एक बार कक्कू से मिलवा दे। उसके बाद जाना।"

"पहले तुम शशि से मिलना चाहती थी...उसे बुलवा दिया तो कक्कू की रट.."

"वह भी मिल लेगी भाई से"

"मां, इस हालत में...!"

"एक दिन में कुछ नहीं होता"

"ठीक है, वह यहां रहेगा नहीं। मैं सुबह लाउंगा और शाम को छोड़ आउंगा"

"जैसे भी हो। तू ला तो उसे। पता नहीं क्या हाल होगा। महीनों हो गये...उसकी सूरत तक देखनी नसीब नहीं हुई। पता नहीं कुछ खाता पीता भी है या नहीं।"

कक्कू आया तो उसे देख ऐसा लगा कि कक्कू नहीं जैसे उसकी परछाई भर देख रही हूं! जिस्म एकदम सूखी हुई टहनी सा हो गया था कि जरा सा जोर लगाओ तो कड़क जाये! भीतर कुछ गूदा बचा ही नहीं था...सिर्फ हड्डियां ही हड्डियां! अस्थियों का पिंजर! जैसे सूखे हुए तिनकों का कोई बेजान पुतला हो! चेहरा और जिस्म काले से हो आये थे। रक्त की मानो बूंद भी न रही हो शरीर में! आंखों की जगह भीतर को धंसे गड्ढे! डिंपल वाले वे गाल अब एकदम पिचक गये थे। तेइस -चौबीस बरस का वह खूबसूरत नौजवान देखते-देखते मिर्गि हो रहा था। उस नौजवान की तो छाया तक उसमें नहीं थी जो उसे होना था! अब तो था एक डरावना कंकाल!

उससे खड़ा तक नहीं हुआ जा रहा था। भैया ने सीधे उसे उसके कमरे में ले जाकर लेटा दिया। मां इधर इन छह सात रोज़ में घर के अंदर -अंदर चलने फिरने लगीं थीं। वे खुद ही उसके कमरे में पहुंच गयीं। मेरे मन में अपने होने वाले बच्चे को लेकर कुछ डर था इसलिये मैं कक्कू को दूर-दूर से ही देखती रही। उसने मुझ से मेरे अभिवादन के उत्तर में एक शब्द भी नहीं कहा...मेरा होना न होना जैसे उसके लिये कोई अर्थ नहीं रखता था। उन आंखों में किसी रिश्ते की पहचान नहीं थी। अब तो शायद वह मां को भी नहीं पहचानता था। मां को अपने सवालियों के जवाब में हूं-हां से ज्यादा कुछ नहीं मिला। लगता था कि वह इतना कमज़ोर हो गया है कि बात तक करने में उसे तकलीफ़ होती थी। यूँ भी उसे बार-बार खांसी उठ रही थी और खांसी के साथ उसका सूखा हुआ चेहरा दर्द से और भी अकड़ जाता। फिर बेहद तकलीफ़ के साथ उसका बलगम निकलता...कभी कभी बलगम के साथ खून के थक्के निकलते। कक्कू

को देखते हुए मेरा मन डूबने लगता...मेरी आंखों के सामने पंद्रह-सोलह बरस का चमकदार गेहुँए रंग और तीखे नैन-नक्श वाला वह खूबसूरत छह-फुटिया नौजवान घूम जाता और इस कक्कू से उसकी तुलना करके मन किसी गहरे गढ़े में उतरने लगता। एक दो बार तो मां के सामने ही मेरी रूलाई फूट पड़ी। क्या से क्या हो जाता है! पंद्रह से पच्चीस...या उससे भी कुछ कम उम्र...किसी की ज़िंदगी के वे सबसे खूबसूरत साल होते हैं..जब स्वप्न उगते हैं, आकांक्षाये जगती हैं..फलती हैं! ..रंगो का जमाल जब अपने शिखर पर होता है...वही उम्र किसी की ज़िंदगी को नरक में बदल दे...और वह इंसान सिर्फ एक रिसता हुआ नासूर बन कर रह जाये!

शाम को भैया कक्कू को वापिस ले गये तो मां देर तक बिसूरती रहीं - "अब नहीं बचेगा ये।"

"मां जितना दुख वह भोग रहा है, उससे तो अच्छा है..". पता नहीं कैसे कह गयी थी मैं!

"तू शायद ठीक ही कह रही है। जान तो रही नहीं उसमें। खा लिया है सारा शरीर इस तपेदिक ने। अब तो बस खून और बलगम ही भरा है वहां.....मेरे ही करमों का फल है यह!

"ऐसा क्यों कहती हो मां"

"और क्या! ना खायी होती मैंने वे दवाईयां....कितना कुछ तो किया था हमल गिराने को। पांच बच्चे पहले से थे...ये भी कहते थे कि और भार क्या लेना है....बस तभी उसके दिमाग में कमज़ोरी आ गयी।"

"तुम तो अपने-आप को ही दोष देने लगी मां ! कोई हमारे हाथ तो नहीं था यह सब। वो तो जो उसकी किस्मत में था वही....."

पर कहते-कहते मुझे लगा कि शायद मां की बतायी वजह से ही कक्कू के साथ यह सब हुआ। मां शायद ज़िम्मेदार है इसके लिये! मेरे भीतर जैसे खोह सी पड़ने लगी...किसी के गर्भ गिराने का असफल प्रयास किसी की ज़िंदगी का नरक बन जाये...तो इसमें दोष किसका है?

कैसी विडंबना है यह! तो जो कुछ हुआ वह होना ही था....हम चाहे कितना भी कर लेते!

लेकिन मां ने पहले कभी ऐसा क्यों नहीं कहा। क्या पहले भी उनको इस बात का अंदाज़ होगा या कि अभी महसूस हुआ है! शायद पहले इस का अंदाज़ न हो! लेकिन मां का वह गुमसुम, उदास और टटोलता चेहरा! क्या खोजती रहती थी वे आंखें कक्कू के चेहरे पर? क्या वे उस अतीत में दफनाये सवालों के ही जवाब थे! उन जवाबों की ही दहशत थी!

यूं अभी भी कौन कह सकता है कि यही सच है। उसे पनपने को सही हवा-पानी भी तो नहीं मिला...अगर कक्कू ने जो कुछ चाहा था वही हुआ होता तो क्या...उसकी मेडिकल में दाखले की चाह...डाक्टर बनने के सपने...अगर सब कुछ उसका मनचाहा हो गया होता तो

...क्या तब भी उसकी ज़िंदगी ने ऐसा ही मोड़ खाया होता! कौन सी परिस्थितियां किन मुकामों पर पहुंचायेगी -यह क्या पहले से जान सकता है कोई! शायद ऐसा भी तो हो सकता था कि कक्कू मेडिकल या इंजिनियरिंग के किसी कालेज में पहुंच जाता..और फिर वहां कुछ ऐसा होता जो कि अब हुआ है..तो कैसा होता हमारी पीड़ा का स्वरूप!!! क्या पिताजी तब इतना ही टूटते या कि बेटे की लियाकत का सुबूत उन्हें चौड़ी छाती के साथ सुख से जीने देता! या उनकी तकलीफ शायद और भी बढ़ जाती कि देखो क्या होना था और क्या हो गया! ज़िंदगी शायद है ही क़तरा-दर-क़तरा जीना तो क़तरा-दर-क़तरा मरना! हम यूं ही जीने और मरने की वजहें खोजते रहते हैं! हालात कुछ इस तरह का समां बांध देते हैं कि उन वजहों में ही हम सच और नासच खोजते रहते हैं और असली सच पकड़ के बाहर रह जाता है। शायद सच की यह प्रकृति ही नहीं है कि वह इंसानी पकड़ में आ सके। वह सिर्फ प्राप्य है..प्राप्त नहीं...इंसानी प्यार की ही तरह...हमेशा दूर..इच्छित ..उपलब्ध और काम्य!

मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे कि हम सब के जिस्म में भी वही नासूर फूट आया हो....और वह हम सब के भी बाहर निकल कर बस फैलता जा रहा हो....

..

१२

मां के पास आये मुझे दो महीने के करीब होने को थे जबकि एक दिन सुबह-सुबह अस्पताल से किसी का फोन आया था -"कुमुद कुमार सहगल की हालत ठीक नहीं है। फेफड़े एकदम गल चुके हैं....लगता है ज्यादा देर जियेंगे नहीं। आप लोगों ने अगर मिलना -विलना हो या घर ले जाना हो तो ले जाईये"

मेरे पैरों तले जैसे ज़मीन नहीं थी। क्या करूं अब मैं! मां अभी भी बहुत कमज़ोर थीं। भैया कब के बंगलोर वापिस जा चुके थे। गर्भ में बढ़ते अंशु के साथ-साथ मेरा अपना शरीर खूब भारी-भरकम हो गया था। मैं ज्यादा कहीं आती -जाती नहीं थी...यूं अगर आ-जा सकती तो भी क्या छुआछूत के भय से अस्पताल जा पाती? मन बहुत बेचैन हो रहा था...पर मैं कुछ नहीं कर पा रही थी। यहां तक कि मैंने मां को भी कुछ नहीं बताया...चुपचाप भैया को टंककाल कर दिया..भैया को अब छुा लेना भी मुश्किल था..फिर भी वे कोशिश करने की

कह रहे थे। मां को पता नहीं कुछ भीतर से ही ऐसा उठ रहा था, कहने लगीं - "कक्कू से मिले बड़ा अरसा हो गया"

"पहले खुद तो ठीक हो लो...फिर मिल आना"

"वो तो ठीक है...पर पता नहीं जी कैसा-कैसा हो रहा है...कहीं मिल पाती तो..."

पहले सोचा चाचा को फ़ोन कर दूं..फिर पता नहीं क्यों नहीं किया..शायद यह भी सोच रही थी कि भैया आयेंगे तो ले जायेंगे...चाचा को यूं भी उसके पास जाना बेकार की बात लगती थी।

दो ही दिन बाद अस्पताल से दुबारा फोन आ गया था। वही भयावह खबर...जिसका भीतर कहीं इंतज़ार भी था...फिर भी मन डूब रहा था। एक तरफ लगता था कि चलो उसे मुक्ति मिली...और हमें भी ...उस अस्थिपिंजर को दुबारा देखने का साहस क्या कभी भी जुटा सकती थी!..लेकिन साथ ही था उसे हमेशा के लिये खो देने का एक दर्दनाक, गुफाओं में धकेल देने वाला अहसास!

मां पछाड़ खा कर गिर पड़ी थी..दो-ढाई सालों के वक्फे में यह दूसरा झटका था! पर इस बार उनके शोक की धुरी में अपना सब कुछ लुट जाने का अहसास नहीं था जैसा कि पिताजी की मौत के वक्त उन्हें महसूस हुआ था। इस बार तो वे लगातार यही दुहराती रही -- "क्योंकर इतना दुख पाया मेरे बच्चे ने....भगवान क्यों दिया इतना कष्ट उसे" जैसे कि वे उसकी ओर से न्याय की गुहार लगा रही हों! न्याय ! जो जीते-जी तो मिला नहीं उसे!

जब तक भैया पहुंचे, मौत हुए चौबीस घंटे हो चुके थे। भाई बहनों के इलावा किसी दूसरे रिश्तेदार को सूचना नहीं दी गयी थी। भैया के आने पर जब लाश घर पर लायी गयी तो सूखी लकड़ी की तरह अकड़ी हुई थी। झटपट नहलाने-धुलाने और नया चोला पहनाने की ज़रूरी रस्में अदा की गयीं और तुरंत लाश को श्मशान ले जाया गया। जो कोई पहुंच सका, पहुंचा। किसी का इंतज़ार नहीं किया गया। कक्कू का सारा अस्तित्व जैसे एक छूत भर ही था, जिसे जल्द से जल्द घर के बाहर करना था।

वह हमेशा घर ले चलने का इसरार करता रहता था.....अब उसकी लाश तक को घर पर टिकने का समुचित वक्त नहीं मिला था। जो संस्कार किसी भी मृत का हक होते हैं...वे हड़बड़ी में ही टाल दिये गये थे क्योंकि तर्क की दृष्टि में वही सही था। मां ने भी जैसे कि अब हार मान ली थी...वर्ना उनके सिवा घर में और कौन था जो कक्कू के हक में लड़ पाता...मैं तो खुद अपने भीतर पल रहे अंशु को लेकर ज्यादा चिन्तित थी। रिश्तेदार चौथे और दसवें की रस्मों में ही शरीक हो पाये थे। तेरहवें पर मां ने खुद ही बैठक में हवन कर लिया था।

सूनेपन की एक और परत चढ़ गयी थी उस घर की दीवारों पर। जैसे वह घर भरी जवानी में ही बुढ़ाने लगा था! कक्कू की ही तरह क़तरा-क़तरा भुरता हुआ, चुकता हुआ!

+ + + + +

दो-चार दिन बाद ही मां के कहने पर मैं पिताजी की आल्मारी के कागज़ उलट-पलट रही थी। उनके जाने के बाद से किसी को फुरसत ही नहीं मिली थी उनके कागज़ात वगैरह देखने की। दो सालों से वे ज्यों के त्यों गादरेज की आल्मारी के लॉकर में बंद धरे थे। यूँ आल्मारी मां के कमरे में ही थी पर न तो उन्हें कभी खोलने की इच्छा हुई न जिज्ञासा। वे यह भी कहती थीं कि उनको इन बातों की क्या समझ!

अचानक एक नये से बंद लिफाफ़े पर मेरी नज़र पड़ी। खोला तो भीतर पिताजी के हाथ की लिखी वसीयत थी जिस पर बाकायदा वकील की मोहर और हस्ताक्षर थे। मैंने झट से सारी वसीयत पढ़ डाली। उसमें कक्कू का ज़िक्र था। लिखा था कि यह घर अंततः दोनों बेटों के लिये ही है पर जब तक कक्कू जीवित है घर पर पहला हक़ उसी का है। वही इसमें रहेगा। उसकी परवरिश का खर्चा भी पिताजी ने अलग से रखवा दिया था जिसकी देखरेख की हिदायत दूसरे दोनों बेटों के लिये थी।

अजीब मज़ाक था वक्त का भी! जिस कक्कू को मद्देनज़र रखकर पिताजी ने यह वसीयतनामा लिखा होगाआज इस घर से उसका जनाज़ा निकल जाने के बाद पहली बार उसे खोला जा रहा था!

तो क्या पिताजी को मकान बनवाने की हड़बड़ी भी इसलिये थी कि कक्कू के रहने के लिये कोई नीड़ हो जाये। वही कक्कू जो पिताजी को घर से निकालने के लिये ज़िम्मेदार मानता रहा! क्या कभी सोच पाता कि उन्हीं पिताजी ने तिल तिल करके उस के लिये यह घर बनवाया था! कि जिसमें उसे कभी रहना नहीं था! कि अगर वह आज जीवित भी होता तो क्या यहां रह पाता!

कक्कू के जाने पर कोई रोया नहीं था सिवा मां के। उनके आंसू भी एकदम खामोश और बेआवाज़ थे। जब आसपास लोग छुटकारे और बोझ हटने की बात कर रहे हो तो रोना भी एक तरह का द्रोह हो जाता है जिसके लिये हिम्मत जुटाना रो पाने से ज्यादा बड़ी बात हो जाती है। फिर मां भी तो थक चुकी थीं, निचुड़ चुकी थीं। उनकी ज़िंदगी का एक बड़ा हिस्सा एक निष्फल भाग-दौड़ में ग़र्क़ हो गया था। यूँ कक्कू के जीते-जी शायद इतने आंसू बहाये चुके थे कि अब चुक गये थे आंसू भी। उसके जीने और मरने में कुछ फर्क ही कहां रह गया था!

कक्कू तो क़तरा-दर-क़तरा मरता रहा था, घर से बाहर होता रहा था!

और मैं क़तरा-दर-क़तरा अंशु को जिलाने में लगी थी....उसे घर देने में जुटी थी। अंशु जब पैदा हुआ तो लगा जैसे कक्कू ही वापिस आ गया...वैसे ही तीखे नैन-नक्श, गालों में मोहक गड्ढे। पर मन ही मन इस साम्य को स्वीकारते ही मैं घबरा भी जाती थी....कहीं अंशु

का भविष्य भी ऐसा कोई हादसा तो नहीं छुपाये बैठा अपनी कोख में! सोच से ही मन दहल जाता था। लेकिन अपने अवचेतन में भी मुझे कभी ऐसा संकेत नहीं मिला था कि अंशु के साथ ऐसा कुछ होनेवाला है। जब पहली मंज़िल की खिड़की से गिरकर उसके सिर में चोट लगी तब भी नहीं। डर तो था कि उसे हमेशा के लिये खो न दूं! चाहे अशोक के लिये तो वही याचित स्थिति थी। पर मैं लगातार यही खुद से कहती रही कि मैंने तो इसे अपना श्रेष्ठतम दिया है...कोई गर्भ गिराने की कोशिशें नहीं की ...बल्कि मांग-मांग कर लिया है...तब मेरे साथ, मेरे अंशु के साथ ऐसा क्यों हो?

लेकिन परिस्थितियों पर कब किसका ज़ोर होता है। अपने बूते पर चाहे परिस्थितियां बदलने की कोशिश भी करती रही हूं...अंशु के साथ-साथ उसके जैसे दूसरे बच्चों की ज़रूरतों को उनके कानो तक भी पहुंचाने की कोशिश कर रही हूं जिनके पास धन है, ताकत है, जो परिस्थितियों में बदलाव लाने का दम खम रखते हैं...कम से कम बाहर से तो यही ज़ाहिर करते हैं। अशोक को तो मेरी इन कोशिशों से भी नाराजगी है। वह उन सब लोगों को हिकारत की नज़र से देखता है जिनसे मैं अंशु की वजह से जुड़ी हूं--चाहे वे अपाहिजों की मायें हों, स्कूल हों या इस क्षेत्र में काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता। अपना सबकुछ खोकर आज अगर एक व्यक्ति के रूप में मन के संतोष के लिये कुछ खोज पायी हूं....जो कि एक तरह से अंशु के प्रति मेरी भावना का ही विस्तार है...तो वह भी अशोक के लिये गर्हणा की ही वस्तु बना है। उस दिन सुना तो रहा था मुझे-"खूब नेतागिरी कर रही हो तुम! सारे अपाहिज समाज की नेता! अपने तथाकथित कष्टों को भी खूब भुनाना जानते हैं लोग....खूब इस्तेमाल किया जा रहा है बेटे के अपाहिजपन को! अगले चुनाव में तुम भी खड़ी हो जाना अपाहिज टिकट पर!"

इतनी कड़वाहट, इतना व्यंग! यह सब इसलिये कि अंशु को बनाने में जो अपनी उर्जा विकसित कर पायी हूं....आज उस उर्जा ने मुझे अपने आप में भी एक सशक्त, एक स्वतंत्र व्यक्ति बना दिया है...अशोक से भी स्वतंत्र! उसका अहं इसे बरदाश्त कैसे कर सकता है...घर की चहारदीवारी में बंद रहनेवाली शशि अब खुले रूप से समाज में भाग लेने लगी है....क्योंकि उसका पंद्रह वर्षीय अंशु एक सही ढंग के पहाड़ पर बने स्कूल में वयस्क जीवन जीने के तौर-तरीके सीख रहा है....अब उसे साथ बिठला कर नन्हें-नन्हें, मामूली काम नहीं सिखलाने पड़ते क्योंकि उनमें वह काबिलियत हासिल कर चुका है और एक हद तक स्वतंत्र हो गया है उन्हें संभालने में। और उसकी स्वाधीनता में ही स्वतंत्रता मिली है मुझे....ताकि मैं उन दूसरों को भी अपना पहचाना रास्ता दिखा सकूं....! उन असहाय माताओं की मदद करने, उनके दुख बांटने को ही वह मेरी नेतागिरी कहता है। क्या इस समाज को अपनाना, उसका हिस्सा बन जाना मेरी मजबूरी नहीं थी। क्या अंशु को अशोक का समाज कभी पनाह दे पाता? क्या वह

भी उनके बीच एक शर्मनाक स्थिति बन कर न रह जाता-जैसा कि कक्कू के साथ हुआ! क्या मेरा चुनाव सिर्फ इतना नहीं था कि या तो अशोक के समाज को अपनाकर अंशु को भूल जाऊं....और अगर अंशु को...वही तो हुआ भी है.....अंशु को पाने के लिये अशोक को खो देने की कीमत ही पड़ी है मुझे! मेरी यह नियति क्या अवश्यंभावी थी?

लेकिन यह सब बहुत धीरे-धीरे, मुझको पूरी तरह अंधेरे में रख कर हुआ। या शायद मैं अंशु में इतनी मग्न थी कि उसकी रौशनी के घेरे के बाहर सब कुछ धुंधला गया था। मेरी अपनी ही लापरवाही...बेसरोकारी! शायद अभी भी पता न लगता अगर कोई अपने हाथ से इशारा कर के मुझे दिखाता न। और एक बार देखने के बाद आंख बिना देखे भी बहुत कुछ देख लेती है... तब पीड़ा के भूत हर दिशा से शकलें बदल-बदल कर हमले करने लगते हैं!

कई बार बहुत तड़प उठता है मन.....फोन के चोगे की ओर हाथ बढ़ते हैं.....कह दूं उस नाम-बेनाम रिश्ते से--मेरे अशोक को रिहा कर सकती हो...क्या मुझे मेरा अशोक लौटा सकती हो! लेकिन अशोक मेरी इच्छा से तो गया नहीं था तब मेरी इच्छा क्या उसे लौटा लायेगी? कमज़ोरी के किन क्षणों में जब उसके सामने रो धो दी थी तो तभी नेतागिरी का ताना सुनने को मिला था। बस अब इतने पर ही हक है मेरा। मैं उन लोगों में नहीं जिनके दोनों हाथ सुख बटोरने के लिये होते हैं! कितने कुछ को एक साथ संभाल कर चलना पड़ता है ज़िंदगी में! ज़रा सा चूके नहीं कि कोई नाज़ुक सी चीज़ गिरकर चकनाचूर हो जाती है। टुकड़े सहेज भी लूं...पर दुबारा क्या उसे वैसा ही बनाया जा सकता है...जोड़ और दरारें क्या उसकी सूरत को झुर्रियों से नहीं पूर देगी। फिर जोड़ने की अब तक की हर कोशिश तो नाकाम ही रही है। तब क्या बचा है मेरी ज़िंदगी में!!!

+ + + + + + +

पहाड़ी पर बने अपने स्कूल से अंशु ने मुझे अपनी दो पेंटिंगज़ भेजी हैं। दोनों में रंगों का चुनाव एक सा ही है--खूब खुला मैडिटेरियन समुद्र जैसा रॉयल ब्लू और भोर के आसमान जैसा खिला हुआ कोमल लाल। एक चित्र में तो सिर्फ़ खिलवाड़ है इन्हीं दो रंगों का--कहीं हल्की तो कहीं गहरी रंग छायाये....मध्य में एक गहरी नीली रेखा तो उसको काटती उपर की ओर उन्मुख गहरी लाल रेखा। दूसरे चित्र में इन्हीं रंगों के बीच से उभरता एक मानवी शरीर है--पिचके हुए गाल, तीखी नाक, और जिस्म का आकार इतना क्षीण है मानों हड्डियों का ढांचा हो! पता नहीं क्या हो जाता है मुझे.....चित्र को देखती हूं तो वही ज़िंदगी और मौत से लड़ता हुआ कक्कू का कंकाल आंखों पर आकर स्थिर हो जाता है!

लेकिन अंशु....अंशु के जहन में ऐसी तसवीर क्यों?...क्या वह भी मेरे भीतर के कक्कू को जीता रहा है? अगर कक्कू खुद पेट कर पाता तो क्या वह भी ऐसा ही कुछ..पर सच में अगर कक्कू पेट कर पाता तो शायद उस नरक से बच जाता। लेकिन कक्कू क्या कर सकता था

या क्या नहीं इसकी पहचान भी तो किसी को नहीं हो पायी! चाहे इसकी वजह हमारी परिस्थिति थी या नियति या जो भी...पर कक्कू ने ही शायद मुझे इतना अनुभवी बना दिया था कि मैं अंशु को बचा पायी। यूँ यह भी मुमकिन है, जैसा कि मां कहती है, कि सब अपनी अपनी नियति भोगते हैं! कक्कू जिन हालात में पैदा हुआ या जिन परिस्थितियों में बढ़ा-पला- - क्या इसे भी उसकी नियति ही कहेंगे!

सवाल! सवाल! सवाल! हमारे पास सिर्फ सवाल ही होते हैं! जवाब एक भी नहीं! शायद इसे भी नियति ही कहा जायेगा। क्या सवाल भी परिस्थितियों से निःसृत या उनके वशीभूत होते हैं..जबकि जवाब मिलता है नियति से! या नियति ही मात्र एक सवाल है और जवाब है परिस्थितियां...सच्चाई और असलियत के नाम धरे लंबे तेज़ नाखूनों से कुरेचतीं ... खून और मांस के लबालब कटोरे गटकती परिस्थितियां.. जहां राहत का एक मात्र संबल रह जाता है नियति! किसी बेकार वेश्या सी धंधा खोजती नियति--जो चाहे उसी की होने को तैयार!

बहुत टूट चुकी है मां ! सिर्फ मौत का ही इंतज़ार जिसे हो उसके लिये ज़िंदगी मौत से भी बदतर हो जाती है। उस बड़े से घर में अकेली मंडराती फिरती है मां ! अपनी ही परछाई सी! कहती है कक्कू के बाद सब बहुत सूना हो गया। कक्कू जो नाम मात्र को ही रहा था उस घर में...वह घर अभी भी जैसे उसका स्वागत करने को उत्सुक बैठा था, जैसे कोई सजी-धजी दुल्हन पीहर जाने से रह जाये। मां के लिये उसके होने मात्र की भी रौनक थी--फिर वह होना औरों की नज़रो में चाहे कितना निरर्थक हो या खुद मां के लिये वह कितना ही पीड़ादायक हो। उसका न होना ही होने को अर्थ दे गया था। यूँ उसके होते हुए चाहे होने का अर्थ खो भी गया हो।

अंशु के दोनों चित्र मां को दिखाते हुए मैंने उनसे भी कक्कू का ज़िक्र किया था-"अंशु से तो मैंने कभी कक्कू के बारे में बात भी नहीं की ...उसकी तसवीर तक नहीं दिखायी..तब यह चित्र...?"

मां ने मेरी बात को ज्यादा तूल न देते हुए कहा था-"तेरे अपने ज़हन में भी तो कुछ हो सकता है ..तभी तुझे शायद ऐसा दीखता है...वर्ना जहां तक कक्कू का सवाल है, जो कुछ भी उस के साथ हुआ वह तो होना ही था। भगवान खुद भी आ जाते तो शायद टाल न पाते"

मैं

अवाक मां को देखती रही थी।

"जब

कक्कू मेरे पेट में था तभी से उसे लेकर मेरे मन में डर बैठा हुआ था"

"ऐसा क्यों...?"

मां थोड़ा सा झिझकी...झुर्रियों के आड़े-तिरछे जाल में टंकी आंखें जैसे अपने-आप से ही बचने के लिये झुकीं और फिर कहीं शून्य में जाकर गड़ गयीं।

"तेरे डाक्टर चाचा ने ही कहा था ...तुझे मालूम है तेरे पैदा होने के साल भर बाद ही मुझे डायबटीज़ हो गयी थी ..खैर शुक्र है तू तो हो ही चुकी थी....उन्होंने कहा कि डायबटिक मां से पैदा होने वाले बच्चे का दिमाग..."

वाक्य पूरा होने के पहले ही मां का गला रुंध गया था। फिर भी मैंने बेदर्दी से पृष्ठ डाला-

"तो तुम्हें कक्कू के बारे में मालूम था....."

"मालूम होने से क्या ...दर्द कम हो जाता है ?... गिराने की कोशिशें तो की ही थीं। फिर मालूम भी किसी को कितना होता है... बात तो संभावना की ही थी...ये तो नहीं मालूम था कि सच में ऐसा हो जायेगा.. बहुत पूजा-पाठ किये..बड़ी मन्नते मांगीं...भरोसा था कि उपरवाला इतनी तो सुनेगा मेरी...उम्मीद पर ही तो....."

झुर्रियों में धंसी मां की आंखें पनिआ जाने से कुछ चमक आयीं थीं। मैं लाल-नीले चटक रंगों की झीनी परतों से उभरते उस कंकाल हो आये मानवी शरीर पर आंखें टिकाये सोचती रहीमां भी अपनी जगह लड़ती रही...पर उनकी लड़ाई तो शायद नियति से थी..जिसमें हार लगभग अवश्यभावी ही थी...और मेरी लड़ाई थी परिस्थितियों से..क्या मैंने सच में जीती है यह लड़ाई! अपने देखते-देखते अशोक को यूँ खो देना...।..मां का पिताजी को खोना शायद नियति के बस में था...और मेरा अशोक को खोना ...क्या..शायद परिस्थितियों के वशीभूत?....लेकिन तकलीफ के ये अलग-अलग नाम ही तो हैं। .. तो क्या होता अंततः वही है जो होता है..और हम सिर्फ नयी नयी परिभाषाएँ खोज कर उसे अपनी समझ के दायरे में बांधने की कोशिश करते हैं... मां उसे नियति के हवाले कर देती हैं ...और मैं अपने आप के! तकलीफ अपनी जगह होती है..उसकी शकल या परिमाण जो भी रहे हों... उसका रिश्ता सिर्फ उस एक से ही होता है --उसके भोगनेवाले से ...उस रत्ती-रत्ती निचुड़ जाने वाले से! उस बोटी-बोटी नुच जाने वाले से! उस कतरा-दर-कतरा मिट जाने वाले से.....!!

समाप्त

उपन्यास-"कतरा-दर-कतरा"

लेखिका- प्रोफेसर सुषम बेदी, पता:कोलंबिया विश्वविद्यालय, मध्य एशियाई भाषा एवं संस्कृति विभाग, न्यूयार्क, न्यूयार्क-१००२७

घर का पता- ४०४ वेस्ट, ११६ स्ट्रीट, ३३

न्यूयार्क, न्यूयार्क १००२७